प्रतिमान

समय समाज संस्कृति

जनवरी–जून, 2019 (वर्ष 7, अंक 13)
समाज–विज्ञान और मानविकी की पूर्व–समीक्षित अर्धवार्षिक पत्रिका

भारतीय भाषा कार्यक्रम
विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस)
29, राजपुर रोड, दिल्ली–110054 फ़ोन : 91.11. 23942199
ईमेल : pratiman@csds.in; वेबसाइट : www.csds.in/pratiman
+

21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002 फ़ोन : 91.11.23273167, 23275710
ईमेल : vaniprakashan@gmail.com; वेबसाइट : www.vaniprakashan.in

सेंटर फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसाइटीज़, 29, राजपुर रोड, दिल्ली–110054 के निदेशक संजय कुमार के लिए प्रकाशक एवं मुद्रक अमिता माहेश्वरी, वाणी प्रकाशन, 21–ए, 4695, दरियागंज, नयी दिल्ली–110002 द्वारा प्रकाशित और ऑप्शन प्रिंटोफ़ास्ट, 41, पटपड़गंज इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली–110092 में मुद्रित। सम्पादक : अभय कुमार दुबे

मूल्य : व्यक्तिगत : ₹ 350, संस्थागत : ₹ 500
विदेशों के लिए : $ 20+डाक ख़र्च अतिरिक्त या किसी अन्य मुद्रा की समकक्ष राशि

ISSN: 2320-8201

अनुक्रम

विशेष लेख

साक्षात्कार

समीक्षा

संधान

स्मृति-शेष

दस्तावेज़

बहुसंख्यकवादी समय में लोकतंत्र और विमर्श की चिंताएँ

तेईस मई, 2019 की तारीख़ भारतीय लोकतंत्र के इतिहास में याद रखी जाएगी। इसी दिन सत्रहवीं लोकसभा के चुनाव-नतीजे घोषित हुए, और इसी दिन हमारी राजनीति संरचनागत रूप से पुनः एक पार्टी के प्रभुत्व के अधीन हो गयी। यह प्रक्रिया 2014 के लोकसभा चुनाव से शुरू हुई थी, जो इस चुनाव के कारण बीच में भंग होने के बजाय और सुदृढ़ और स्थापित हो गयी। एक पार्टी के प्रभुत्व को समाजशास्त्री योगेश अटल ने उस समय 'एक दल-महाप्रबल' की संज्ञा दी थी, जब रजनी कोठरी और धीरूभाई शेठ जैसे विद्वान साठ के दशक के आख़िरी वर्षों में चुनाव-अध्ययन की नींव डाल रहे थे। उस दौर में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के वारिस के तौर पर यह हैसियत कांग्रेस को मिल गयी थी, लेकिन इस बार भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) महाप्रबल दल के रूप में उभरी है। इस परिवर्तन का संदेश व्यापक, गहन और दूरगामी है, क्योंकि मामला केवल एक पार्टी द्वारा दूसरी को प्रतिस्थापित करने का नहीं है। वह समूचा विमर्श ही बदल गया है जो उत्तर-औपनिवेशिक समय में कांग्रेस के महाप्रबल होने के साथ स्थापित हुआ था।

उत्तर-औपनिवेशिक हालात में कांग्रेस ने पारम्परिक निष्ठाओं का तिरस्कार किये बिना एक ऐसा मध्यमार्गी विमर्श स्थापित किया था जिसे वामपंथी और प्रगतिशील रुझानों के साथ सेकुलर, बहुलतावादी और उदारतावादी समझा जाता था। सामाजिक रैडिकलिज़्म से वंचित होने और अन्य प्रकट सीमाओं के बावजूद इस विमर्श की ख़ूबी यह थी कि यह उस बहुसंख्यकवादी आवेग को हाशिये पर रखने में समर्थ था जिसके अंदेशों से दुनिया का हर लोकतंत्र संत्रस्त रहता है। इस विमर्श की सफलता दीर्घकालीन साबित हुई, क्योंकि कांग्रेस के राजनीतिक रूप से कमज़ोर होने के बाद उभरी गठजोड़ राजनीति भी इसी विमर्श से संचालित होती रही। पिछले तीन दशकों के दौरान क्षेत्रीय शक्तियों के दम पर यह विमर्श बहुसंख्यकवाद की जीत में रुकावटें पैदा करता रहा। लेकिन, इस बार भाजपा के महाप्रबल होने के साथ ही यह आवेग हाशिये से निकल कर राजनीति के मर्म पर छा गया है। परिणामस्वरूप

मध्यमार्गी विमर्श अपनी प्रभुत्वशाली स्थिति से वंचित हो कर एक कोने में सिमट चुका है। ज़ाहिर है कि यह दूरगामी प्रवृत्तियों वाला यह संरचनागत परिवर्तन राजनीतिक भी है, और विमर्शी भी। तेरहवें *प्रतिमान* की कई रचनाएँ इसी परिवर्तन का संधान करती हैं।

अभय कुमार दुबे द्वारा रचित पूर्व-समीक्षित मुख्य लेख 'बदलता हुआ संघ परिवार और मध्यमार्गी विमर्श की जड़ता' विमर्श-नवीसी (डिस्कोर्स मैपिंग) की शैली में लिखा गया है। इसके दो मुख्य तर्क हैं : पहला, बहुसंख्यकवादी राजनीति और विमर्श के मुख्य वाहक संघ परिवार में 1974 के बाद से ऊहापोह की एक ऐसी प्रक्रिया चली है जिसके परिणामस्वरूप उसमें सोच-विचार और संगठन के स्तर पर भीतर से बाहर तक उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। ख़ास बात यह है कि ये परिवर्तन किसी वैचारिक क्रम-भंग या विच्छिन्नता का परिणाम नहीं हैं, बल्कि इनका पूर्वाभास शुरुआती हिंदू-राष्ट्रवादी चिंतन में दिखाई पड़ता है। इन्हीं परिवर्तनों के कारण संघ परिवार एक तरफ़ तो वर्णाश्रम धर्म की वैचारिक अपरिहार्यता से पल्ला छुड़ाने में सफल हुआ, और दूसरी तरफ़ उसने जाति-संघर्ष और ब्राह्मणवादी विरोध की भाषा अपनाए बिना हिंदू राजनीतिक एकता के दायरे में उत्तरोत्तर बढ़ोतरी करने में सफलता हासिल की। दूसरा, संघ परिवार में हुआ यह ज़बरदस्त बदलाव मध्यमार्गी विमर्श के बौद्धिक पैरोकारों की निगाह से पूरी तरह से चूक गया है। यह कोई ऐसी चूक नहीं है जिसे आसानी से दुरुस्त किया जा सके। दरअसल, यह चूक मध्यमार्गी विमर्श के भीतर चलने वाली ज्ञान की जटिल राजनीति का परिणाम है जो इन बौद्धिकों को संघ के अल्पसंख्यक विरोधी चेहरे की आलोचना तक सीमित करके हिंदू राजनीतिक एकता की बुनियादी परियोजना को समझने से रोक देती है। संघ परिवार की रीति-नीति में हुई ये तब्दीलियाँ इतनी स्पष्ट हैं कि उन्हें देखने के लिए किसी ख़ुर्दबीन की ज़रूरत नहीं है। अचरज की बात है कि इसके बावजूद संघ परिवार के आलोचक एक स्व-निर्मित राजनीतिक सहीपन के प्रभाव में इन परिवर्तनों को देखने और समझने के लिए अभी तक तैयार नहीं हो पाए हैं।

इस विशद आलेख के अलावा **सामयिकी** में वरिष्ठ सिद्धांतकार पार्थ चटर्जी और दो युवा समाज-वैज्ञानिकों, रंजन पाण्डेय और कमल नयन चौबे, ने अपनी टिप्पणियों में चुनाव नतीजों का अर्थ-ग्रहण करने का प्रयास किया है। पार्थ चटर्जी के अनुसार यह परिणाम नरेंद्र मोदी द्वारा जनता के सम्प्रभु की हैसियत हासिल कर लेने और लोकलुभावन राजनीति के जटिल संश्रय से मज़बूत हुए बहुसंख्यकवाद का नतीजा है। पार्थ यह भी रेखांकित करते हैं कि इस बहुसंख्यकवाद का मुक़ाबला भारतीय समाज के संरचनागत बहुलतावाद से नहीं हो सकता। रंजन पाण्डेय के विश्लेषण में भाजपा की जीत को हिंदू गोलबंदी का नतीजा बताने वालों से बहस करने के साथ-साथ जीत की अन्य व्याख्याओं पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली गयी है। कमल नयन चौबे ने लोकनीति द्वारा हाल ही जारी एक अध्ययन के ज़रिये सोशल मीडिया के प्रभावों के आईने में मतदाताओं के विचारों में होने वाले परिवर्तनों को समझने का यत्न किया है। इस चुनावी चर्चा से थोड़ा अलग हटते हुए **परिप्रेक्ष्य** में हिलाल अहमद ने अपने लेख 'साम्प्रदायिक हिंसा और मुसलमानों की नुमाइंदगी' में इस बहुसंख्यकवादी माहौल में मुज़फ़्फ़रनगर के दंगों के संदर्भ में अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व के जटिल प्रश्न को सुलझाने की कोशिश की है।

भारत के लोकतांत्रिक भविष्य को प्रश्नांकित करने वाले इस प्रकरण के अलावा तेरहवें *प्रतिमान* का दूसरा केंद्र भाषा, साहित्य, सैद्धांतिकी और वि-उपनिवेशीकरण के इर्द-गिर्द चलने वाली चर्चा का विस्तार है। एक परिसंवाद, एक लम्बे साक्षात्कार, एक स्मृति-शेष और एक प्रकाशित व्याख्यान के ज़रिये उत्सुक पाठकों के सामने तत्संबंधित सामग्री परोसी गयी है। कंचन शर्मा द्वारा प्रतिलेखित और सम्पादित **परिसंवाद** 'अंग्रेज़ी और हम' में सत्रह विद्वान आपस में बहस करते हुए भारत में अंग्रेज़ी के प्रचार-प्रसार, वर्चस्व और ज्ञान-रचना की प्रक्रिया पर पड़े उसके प्रभाव से जुड़े प्रश्नों से जूझते नज़र आते हैं। ये प्रश्न हैं : क्या भारत में अंग्रेज़ी का प्रचार-प्रसार महज़ इसलिए हुआ कि वह अन्य भाषाओं के मुक़ाबले विशेष रूप से 'अर्थकारी' भाषा थी और है? क्या अंग्रेज़ी के औज़ार के ज़रिये उपनिवेशवादियों ने भारतवासियों के आत्म की संरचना को बदल डाला? अंग्रेज़ी के बाद की दुनिया में भारतीय भाषाओं की संरचना में किस तरह के परिवर्तन हुए? क्या अंग्रेज़ी और पश्चिमी ज्ञान से स्वायत्त ज्ञान-रचना सम्भव रह गयी है? जिस तरह पहले संस्कृत और फ़ारसी विमर्श-रचना की अभिजन भाषाएँ थीं, क्या उसी तरह हमें आज के समय में अंग्रेज़ी को ज्ञान-रचना की भाषा के तौर पर स्वीकार कर लेना चाहिए?

विकासशील समाज अध्ययन पीठ के पूर्व निदेशक और हाल ही में दिवंगत हुए सुरेश शर्मा से कवि-सम्पादक उदयन वाजपेयी द्वारा लिए गये लम्बे **साक्षात्कार** 'आधुनिकता और पेगन सभ्यताएँ' में आधुनिक पश्चिम और ईसाई विश्व-दृष्टि के बरअक्स पेगन सभ्यताओं के सांस्कृतिक, वैचारिक और कलात्मक इतिहास को उकेरा गया है। हिंदी की दुनिया में आम तौर पर इन सभ्यतामूलक विषय-वस्तुओं पर विचार नहीं होता। इस लिहाज़ से यह इंटरव्यू विमर्शी हलक़ों में एक नये ऊहापोह की शुरुआत कर सकता है।

स्मृति-शेष हिंदी साहित्य के शलाका पुरुष नामवर सिंह के कृतित्व पर सुधीश पचौरी के लम्बे विश्लेषण के रूप में है। 'नामवर सिंह : हिंदी के पहले बुद्धिजीवी समीक्षक की नामवरी' में हिंदी आलोचना की सैद्धांतिकी और उसके इतिहास पर एक लम्बी विचारोत्तेजक टिप्पणी की गयी है। इसी के साथ **दस्तावेज़** के तौर पर स्वयं नामवर सिंह का एक व्याख्यान प्रकाशित किया जा रहा है जिसमें उन्होंने औपनिवेशिक विमर्श में निहित हिंदी के साहित्येतिहास में रीतिकाल के साथ की गयी बदसलूकी के स्रोतों को चिह्नित किया है। **विशेष लेख** 'सिद्धांत का कर्म : परम्पराओं के आर-पार चिंतन' में प्रथमा बनर्जी, आदित्य निगम और राकेश पाण्डेय ने इस जटिल समस्या से जूझने की कोशिश की है कि क्या सिद्धांत-रचना का वि-उपनिवेशीकरण सम्भव है।

तेरहवें *प्रतिमान* के बाक़ी हिस्से में चार पूर्व-समीक्षित लेख, चार स्मृति-शेष, एक विचारपूर्ण निबंध और पाँच समीक्षाएँ हैं। **दृष्टि** में निशिकांत कोलगे ने 'गाँधी-आम्बेडकर बहस के सबक़' में एक समतामूलक समाज बनाने का लक्ष्य वेधने के लिए दलित-चिंतन में कुछ संशोधनों की पेशकश की है। पूर्व-समीक्षित लेखों में शुभनीत कौशिक ने 'भाषा, धर्म और राष्ट्र' में 1910 से 1935 के बीच हिंदी साहित्य सम्मेलन के उस पेचीदा

इतिहास का आख्यान पेश किया है जिसमें लिपि और उर्दू-हिंदी विवाद राष्ट्रवादी दावेदारियों के साथ अंतर्गुम्फित दिखाई पड़ता है। नेहा राय के लेख 'प्रवास में स्त्रियों की अनदेखी' में उन सरकारी आँकड़ों की वैधता और निष्पक्षता पर सवालिया निशान लगाया गया है जो प्रवसित स्त्रियों के श्रम, उत्पादन और मनुष्य के रूप में उनकी स्वायत्तता की पूरी तरह से अनदेखी करते हुए जमा किये जाते हैं। श्वेता पाल ने 'अधिकार, बीमा और समानता' में उत्तर प्रदेश में स्वास्थ्य बीमा की योजनाओं की ज़मीनी स्थिति को अपने अनुसंधान का विषय बनाते हुए दिखाया है कि किस तरह ये योजनाएँ अपनी बुनियादी संरचनाओं के कारण स्त्रियों के लिए अपेक्षाकृत कम सुलभ रह जाती हैं। बनस्मिता बोरा ने 'बग़ावत पर सोचते हुए बाग़ी' में उत्तर-पूर्व में किये गये अपने फ़ील्ड-वर्क के माध्यम से भारतीय राज्य के विरुद्ध हथियारबंद बग़ावत करने वाले संगठनों से जुड़े और आत्म-समर्पण कर चुके बाग़ियों के मानस में झाँक कर यह देखने की कोशिश की है कि वे उनके चिंतन में इस राजनीति की उपलब्धियों और निराशाओं का अनुपात क्या है।

इस बार छह कृतियों की समीक्षाएँ प्रकाशित की जा रही हैं। आलोक टंडन ने शशि थरूर की रचना *मैं हिंदू क्यों हूँ,* ज्ञानेन्द्र कुमार संतोष ने राजीव रंजन गिरी के निबंध संग्रह *परस्पर : भाषा-साहित्य-आंदोलन,* राजकुमार ने सुधीश पचौरी की रचना *तीसरी परम्परा की खोज,* प्रदीप कांत चौधरी ने इतिहासकार कृष्ण मोहन श्रीमाली की रचना *प्राचीन भारतीय धर्मों का इतिहास,* शम्भू जोशी ने आलोक टंडन की पुस्तक *अस्मिता और अन्यता,* और देवेश विजय ने फ़ीरोज़ वरुण गाँधी की विशाल रचना *अ रूरल मेनिफ़ेस्टो* पर आलोचनात्मक दृष्टि डाली है। **स्मृति-शेष** में सुधीश पचौरी द्वारा नामवर सिंह पर की गयी टिप्पणी के अतिरिक्त रश्मि रावत ने कृष्णा सोबती, पंकज कुमार बोस ने कुँवर नारायण, शैल मायाराम ने सुरेश शर्मा और प्रयाग शुक्ल ने गिरीश कारनाड के कृतित्व को श्रद्धांजलि-स्वरूप स्मरण किया है।